

हिन्दी ज्युनियर (कक्षा ५ से ७)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।
२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।
३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

१. मेधावी नरेन एवम उनके अनूठे गुरु

दक्षिणेश्वर में नरेन अत्यन्त मस्त रहते थे। वहाँ उनका कुमार सुलभ उन्मुक्त उत्साह देखते बनता था। मानों एक शक्तिवान तथा वात्सल्यमय पिता के सामने वे मौजमस्ती वाले एक युवा सिंह थे। उनके मन और मस्तिष्क की दबी हुई शक्ति, जो पहले अंशतः प्रकट होने के कारण एक तूफान और घोर पीड़ा का कारण बन गई थी, अब पूर्णतः उभर कर प्रकट हो सकती थी। यह शक्ति अब आध्यात्मिक शक्ति का सैलाब बन उमड़ बाहर आई थी। श्रीरामकृष्ण उस शक्ति को पहचान गये और उन्हें अत्यन्त आनन्द हुआ। नरेन की आत्मा की उड़ाने उन्हें स्पष्ट दिखाई देती थीं।

यदि श्रीरामकृष्ण दीर्घ आध्यात्मिक अनुभवों से देदीप्यमान राजा समान थे, तो नरेन, गुरु से आध्यात्मिक धरोहर पाकर एक तेजस्वी एवम ओजस्वी युवा राजकुमार थे। गुरु ने नरेन को अपने निजी मनोबल के अनुरूप कार्य करने का अवसर दिया तथा उन्हें स्वयं अपना गुरु बनने दिया। उनका मानना था कि मन की निश्छलता स्वतः धीरे धीरे मन को आलोकित कर देती है। उन्होंने नरेन को अनुमति दे रखी थी कि उनके प्रति जो शंकायें उनके मन में उठती हैं उनका वे अवश्य समाधान करें तथा उनको समझें-परखें। उन्होंने कहा, "केवल मेरे कहने पर किसी बात को स्वीकार मत करना, हर बात स्वयं जाँच-परख कर ही मानना ।"

यह सच है कि सब शिष्यों में केवल नरेन ही श्रीरामकृष्ण की महानता को पहचानते-समझते थे। वे ही एकमात्र शिष्य थे जिन्होंने श्रीरामकृष्ण की

बातों पर संशय करने का साहस किया। नरेन का गुरु के प्रति विश्वास, आजमाया हुआ विश्वास था, जो उन्होंने उनके वचनों को नापतोल कर परखने के बाद पाया था। अन्य शिष्य गुरु के मुख से निकले हर शब्द को पूरे मनोयोग से सुनते थे। वे भक्त थे, जो गुरु से प्रेम करते थे और उनका विश्वास, उनकी श्रद्धा प्रेमजनित थी। वे श्रीरामकृष्ण को अपने उत्कट प्रेम के द्वारा ही समझते थे। परन्तु नरेन श्रीरामकृष्ण से प्रश्न करते थे, उनके वचनों पर मुस्कुराते थे तथा उन वचनों की आलोचना भी करते थे। नरेन को भी गुरु के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था, ऐसा प्रेम जैसा कोई अन्य शिष्य नहीं कर सकता था, तथा इसी प्रेम के वशीभूत हो उन्हें गुरु के प्रति गहरी श्रद्धा एवम भक्ति थी। परन्तु जब तक उन्हें श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की सच्चाई से पूरा सन्तोष नहीं मिलता, वे सन्तुष्ट नहीं होते थे।

सत्य को खोजने और सत्य को प्राप्त करने की नरेन की शक्ति ने श्रीरामकृष्ण के मन में नरेन के लिये आदर जागृत कर दिया था। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, यह नरेन का "शिव-भाव" या "शिव-शक्ति" थी। एक अवसर पर श्रीरामकृष्ण ने नरेन की ओर इशारा करके अपने उपस्थित शिष्यों से कहा, "देखो, यह नरेन है! देखो उसकी अन्तर्दृष्टि कितनी सशक्त है। यह दिव्य ज्ञान का मानो अनन्त सागर है।" उन्होंने जगज्जननी से प्रार्थना की, कि वे नरेन के दिव्य ज्ञान को किंचित सीमित रखें ताकि वे कुछ कल्याणकारी कार्य कर सकें। साथ ही उन्होंने माँ से अनुरोध किया, "हे माँ! नरेन में अपनी माया का कुछ सन्निवेश करो। अन्यथा अपनी आत्मा की पुकार पर, वे व्यक्तिगत साधना के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये, चरम सत्य के अनवरत ध्यान में मग्न रहेंगे तथा संसार के कल्याण कार्य नहीं कर पायेंगे।"

श्रीरामकृष्ण की नरेन के विषय में जो धारणा थी उसे अन्य शिष्यों ने निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया था। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के इस कथन पर सहज विश्वास कर लिया कि, "नरेन में ऐसी अठारह शक्तियाँ हैं, जैसी एक-दो शक्ति मात्र मनुष्य को विश्व में प्रसिद्ध कर सकती हैं।"

अथवा "नरेन एक जाज्वल्यमान, धधकती ज्वाला है जो समस्त मलीनता को जलाकर भस्म कर देती है।"

श्रीरामकृष्ण के सिखाने के तरीके अनूठे थे। वे अपने शिष्यों के साथ कभी-कभार ही वादविवाद में पड़ते थे। एक शब्द, एक दृष्टिमात्र से अथवा एक गीत से वे अपनी सीख दे देते थे तथा उनकी शिक्षा सदैव यही होती थी, "ईश्वरीय अनुभूति ही एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये। जब ईश्वरीय अनुभूति हृदय में होती है, तब सभी वाद समाप्त हो जाते हैं तथा दैवी ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है।" एक दिन नरेन और अन्य शिष्यों में गरमागरम बहस हो रही थी : "ईश्वर साकार है या निराकार? क्या ईश्वर अवतार लेते हैं या दैवी अवतार एक कल्पना मात्र है?" इस प्रकार यह वादविवाद चलता रहा, जब तक सभी धार्मिक प्रश्नों का समाधान नहीं हुआ। नरेन विजेता माने गये। उन्होंने विरोधियों के सभी तर्कों का खंडन कर दिया। श्रीरामकृष्ण उन शिष्यों के पास आकर यह गीत गाने लगे :

"ओ मेरे मन, प्रभु को पाने के तेरे प्रयास व्यर्थ हैं।

अँधेरे कमरे में, एक पागल की तरह भटक रहा है तू।

न दर्शनशास्त्र में, न तन्त्रों में, न वेदों में, कहीं भी 'वह' नहीं मिलेगा।

प्रेम की मधुर सुगन्ध का दीवाना है 'वह'।"

वादविवाद में उलझे सभी शिष्य इस गीत को सुन कर भावविह्वल हो मौन बैठे रह गये। उनके सभी प्रश्नों का उत्तर उन्हें मिल गया था। वास्तव में श्रीरामकृष्ण ऐसे गुरु थे जो केवल आत्मानुभूति की भाषा बोलते थे। वास्तव में उन्होंने "सत्य" को देखा था। फिर मानव मन में निरन्तर उठते प्रश्नों की निरर्थक चर्चा क्यों करनी? गौतम बुद्ध की भाँति, श्रीरामकृष्ण के लिये तर्कों का कोई अर्थ नहीं था। विविध सिद्धान्तों को शब्दों में व्यक्त करना मात्र आध्यात्मिकता नहीं है। आध्यात्मिकता आत्मानुभूति है-चरित्र है। आध्यात्मिकता काम तथा कंचन पर विजय पाना है।

चर्चा का विषय कितना भी गम्भीर क्यों न हो, श्रीरामकृष्ण सामान्यतः

बीच में नहीं बोलते थे। वे शिष्यों को चर्चा करने देते थे। उनका मानना था कि परस्पर चर्चा करके वे अधिक सीख पायेंगे। कभी कभी उन्हें शिष्यों के वादविवाद में आनन्द भी मिलता था। चर्चा के दौरान वे शिष्यों की आध्यात्मिक समझ भी आंक लेते थे। सच में, श्रीरामकृष्ण की संगति आत्मा के विकास के लिए एक उच्च महान पाठशाला थी। वैयक्तिक प्रगति के लिये वह प्रेरणादायी थी। वहाँ सब को यह अवसर मिलता था कि वे स्वयं की शक्ति तथा क्षमता को समझें तथा तदनुसार कार्य करें।

कभी-कभी कुछ अवसरों पर श्रीरामकृष्ण उनके बीच आकर अपनी बात कहते भी थे। जैसे एक अवसर पर नरेन की प्रखर बुद्धि के सामने दूसरे शिष्य की सीमित बुद्धि दब गई थी। नरेन ने मुक्ति पाने के लिए "विश्वास" को साधन मानने की कड़ी आलोचना की थी। उन्होंने विश्वास को अंधविश्वास कहा था। श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा, "अन्धविश्वास" से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? विश्वास तो सदैव अंधा होता है। क्या विश्वास को आँखें होती हैं? 'अंधविश्वास' क्यों कहते हो? या तो "विश्वास" कहो या "ज्ञान" कहो। विश्वास को दो प्रकार का कहने का तुम्हारा आशय क्या है—एक जिसकी आँखें हैं, दूसरा जो अंधा है।"

धीरे धीरे, पर निश्चित रूप से नरेन अब यह समझ गये थे कि ईश्वरीय अनुभूति ही सच्चा धर्म है। मनुष्य को ईश्वर की प्रतीति होनी चाहिये। "सत्य" के विषय में सोचना अच्छा है परन्तु उसकी अनुभूति होना अधिक श्रेयस्कर है—जिसको पाने के लिये पर्याप्त समय तथा धैर्य की आवश्यकता है। नरेन क्रमशः यह बात समझ गये कि श्रीरामकृष्ण की अन्तर्दृष्टि का मौन उनकी सबसे अधिक प्रेरणादायी शिक्षा है। बातचीत के दौरान कभी कभी श्रीरामकृष्ण भावविह्वल करनेवाली बातें करते थे। अन्य अवसरों पर वे शिष्यों को परस्पर चर्चा करने देते थे। चर्चा समाप्त होने पर शिष्य देखते कि श्रीरामकृष्ण गहरी समाधि में मग्न हैं। कुछ समय बाद शिष्यों की समझ में यह बात आई कि उनके तीव्र वादविवाद का विरोध श्रीरामकृष्ण समाधिमग्न होकर करते हैं।

गुरु का चरित्र तथा उनके व्यक्तिगत जीवन का आध्यात्मिक तेज उनकी शिक्षा की प्रेरक शक्ति थे। श्रीरामकृष्ण समस्त प्राणियोंसे प्रेम करने तथा सहनशीलता का उपदेश ही नहीं देते थे अपितु स्वयं वे इस शिक्षा का जीवन्त उदाहरण थे। उन्होंने किसी सामाजिक प्रथा का कभी विरोध नहीं किया। न ही वे जाति प्रथा के विरुद्ध थे। स्वयं ब्राह्मण होते हुये भी लाखों दलितों के लिये, जो समाज के निम्नतम स्तर के माने जाते हैं, उनके मन में प्यार और स्नेह था। जो काम, नीची जाति के लोग भी करने से झिझकते हैं, वे सहर्ष करते थे। यह थी उनकी सहज विनम्रता!

ईश्वरीय अनुभूति तथा उसको पाने के तरीकों के बारे में श्रीरामकृष्ण का क्या कहना था? प्रार्थना कैसे करनी चाहिये? उनका उत्तर था, "जैसे चाहो, प्रार्थना करो। क्योंकि ईश्वर तो एक चींटी के पैरों की आहट भी सुनता है।" ईश्वर को कैसे पाया जा सकता है? उन्होंने कहा, "काम और कंचन पर विजय प्राप्त करके।" निश्छलता उनकी शिक्षा का मूल अंग थी। निश्छलता के बिना कुछ सम्भव नहीं है। तथा निश्छल व्यवहार से सब साध्य है। वे नरेन तथा अन्य शिष्यों से कहते थे कि ईश्वरीय अनुभूति के लिये जो कुछ तपश्चर्या उन्होंने की, उसका यदि सोलहवाँ हिस्सा भी वे कर सकें तो उनका जन्म सफल हो जायेगा। ईश्वर की कृपा उन पर सदा बनी रहेगी।

ईश्वर साकार है या निराकार? श्रीरामकृष्ण ने उत्तर में कहा, "वह साकार भी है और निराकार भी। साथ ही वह दोनों के ऊपर है, किसी भी बौद्धिक या धार्मिक मान्यताओं के परे है। आत्मा की दिव्य अलौकिक अनुभूति में वह दृश्यमान है। अपने भक्त के आनन्द के लिये वह कोई भी रूप धारण कर लेता है। वह वर्णनातीत है। वह न तो किसी पुस्तक के पृष्ठों में है और न ही मन्दिर की दीवारों के बीच।" मूर्तिपूजा उचित है या अनुचित ? श्रीरामकृष्ण के लिये यह प्रश्न व्यर्थ था। किसी की भी पूजा, जो ईश्वर तक पहुँचाने में सहायक हो, उचित है। परन्तु उसके लिये तीव्र उत्कंठा नितान्त आवश्यक है।

हिन्दी ज्युनियर (कक्षा ५ से ७)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।
२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।
३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

२. शिकागो विश्व-धर्मपरिषद में

जब स्वामी विवेकानंद, जुलाई १८९३ के अंत में धर्मपरिषद में भाग लेने के लिए शिकागो पहुँचे, तो उन्हें सूचना ब्यूरो से यह जान कर गहरा धक्का लगा कि वह कार्यक्रम सितंबर तक शुरू नहीं होगा और किसी भी प्रतिनिधि को किसी अधिकृत संगठन से प्राप्त उचित प्रमाण-पत्र के बिना प्रवेश नहीं दिया जाएगा। मद्रास में उनके शिष्यों ने अपने अत्यधिक उत्साह और विश्वास में यह मान लिया था कि उन्हें बस वहाँ उपस्थित होना है और उन्हें अवसर मिल जाएगा। स्वामीजी ने भी रास्ते में आने वाली कठिनाइयों का अंदाज़ा नहीं लगाया था, क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास था कि वे एक दिव्य मिशन की पूर्ति की ओर बढ़ रहे हैं।

स्वामीजी ने पाया कि शिकागो में रहना बहुत महँगा था। उनके पास पर्याप्त धन नहीं था, इसलिए वे बोस्टन के लिए रवाना हो गए, जहाँ चीज़ें सस्ती थीं। रास्ते में, ट्रेन में एक संपन्न यात्री, मिस कैथरीन एबट सैनबॉर्न, उनके शालीन व्यवहार और आकर्षक बातचीत से प्रभावित हुई। जब उन्हें अमेरिका आने के स्वामीजी के उद्देश्य का पता चला, तो उनकी रुचि और बढ़ गई। उन्होंने स्वामीजी को अपने घर रहने के लिए आमंत्रित किया। यह आमंत्रण स्वामीजी के लिए एक ईश्वरीय वरदान की तरह था। उन्होंने तुरंत सहमति दे दी और बोस्टन के पास मिस सैनबॉर्न के ग्रामीण घर में रहने चले गए।

मिस सैनबॉर्न के माध्यम से, स्वामीजी का परिचय हार्वर्ड विश्वविद्यालय में ग्रीक के प्राध्यापक, श्री जे. एच. राइट से हुआ। स्वामीजी के साथ चार घंटों की बातचीत के बाद, प्रोफेसर उनकी विद्वता और बुद्धिमत्ता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने धर्मपरिषद में एक प्रतिनिधि के रूप में स्वामीजी के प्रवेश की व्यवस्था करने की जिम्मेदारी ली। उन्होंने स्वामीजी से कहा, "पूरे राष्ट्र से आपका परिचय कराने का यही एकमात्र तरीका है"। तब स्वामीजी ने अपनी कठिनाई बताते हुए कहा कि उनके पास कोई प्रमाण-पत्र नहीं है। इस पर प्रोफेसर राइट ने कहा, "स्वामीजी, आप से प्रमाण पत्र माँगना वैसा ही है जैसे सूर्य से चमकने का उसका अधिकार पूछना"। उन्होंने तुरंत प्रतिनिधियों के चयन की समिति के अध्यक्ष को लिखा: "यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है जो हमारे सभी प्रोफेसरों से अधिक विद्वान है"। उन्होंने स्वामीजी को उस समिति के नाम परिचय पत्र भी दिया जो पूर्वी प्रतिनिधियों की देखरेख करती थी, और उनके लिए शिकागो का टिकट भी खरीदा।

दुर्भाग्य से, जब स्वामीजी ९ सितंबर को शिकागो पहुँचे, तो उन्हें यह जानकारी निराशा हुई कि उनसे समिति का पता कहीं खो गया था। उन्होंने आने-जाने वाले लोगों से पूछताछ की, लेकिन वह शहर का उत्तर-पूर्वी हिस्सा था जहाँ ज्यादातर जर्मन लोग रहते थे। इसलिए वे उनकी बात नहीं समझ पाए । सितंबर की ठंडी रातें शुरू हो रही थीं। स्वामीजी के पास रेलवे फ्रेट यार्ड (मालगाड़ी यार्ड) में एक खाली बॉक्सकार (मालगाड़ी के डिब्बे) में शरण लेने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचा था। लेकिन शीघ्र ही उन्होंने स्वयं को सभी चिंताओं से मुक्त किया और ईश्वर के नियोजन पर भरोसा करते हुए वहीं पर शांति से सो गए।

सुबह होते ही स्वामीजी समिति का पता तलाशने के लिए निकल पड़े। वे जल्द ही शहर के एक अमीर इलाके में पहुँचे। अत्यधिक थके हुए और भूखे होने के कारण, उन्होंने घरों में जाकर वैसे ही मदद माँगी जैसे भारत में एक संन्यासी माँगता है। उनके मैले कपड़े और थका हुआ रूप देख कर, कई घरों के नौकरों ने उनके साथ बुरा व्यवहार किया

और कुछ लोगों ने तो उनके मुँह पर दरवाज़ा बंद कर दिया। कुछ समय बाद, थक कर चूर होने पर, निराश होकार, वे सड़क के किनारे बैठ गए।

जब स्वामीजी सड़क के किनारे बैठे थे, तो उनके ठीक सामने एक शानदार आवास का दरवाज़ा खुला। एक राजसी रूप वाली महिला बाहर आई और उन्होंने नम्रतापूर्वक उनसे पूछा, "श्रीमान, क्या आप सर्व-धर्मपरिषद के प्रतिनिधि हैं?" स्वामीजी ने उन्हें अपनी कठिन परिस्थिति के बारे में बताया। उन्होंने तुरंत उन्हें अपने घर आमंत्रित किया और उनकी तात्कालिक ज़रूरतों का ध्यान रखा। बाद में, जब स्वामीजी ने भोजन करके थोड़ा विश्राम कर लिया, तो वे उन्हें सर्व-धर्मपरिषद के कार्यालय में ले गईं। स्वामीजी को सहर्ष एक प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार कर लिया गया और अन्य पूर्वी-मेहमानों के साथ ठहराया गया। उनकी रक्षक, मिसेस जॉर्ज डब्ल्यू. हेल थीं। बाद में श्रीमति हेल और उनके बच्चे स्वामीजी के घनिष्ठ मित्र बन गए।

अब स्वामीजी में एक नई ऊर्जा का संचार हो चुका था। उन्हें पूरा विश्वास हो गया था कि ईश्वर उनके साथ हैं। उनका समय प्रार्थना, ध्यान और ऐसी तीव्र व्याकुलता में बीतने लगा कि वे ईश्वर के एक सच्चे माध्यम, हिंदू धर्म के एक सच्चे प्रवक्ता और अपने गुरु के संदेश के एक सच्चे वाहक बन सकें।

सर्व-धर्मपरिषद, 'वर्ल्ड्स कोलंबियन एक्सपोज़िशन' का एक हिस्सा थी, जो क्रिस्टोफर कोलंबस द्वारा अमेरिका की खोज की ४००वीं वर्षगांठ मनाने के लिए १८९३ में शिकागो में आयोजित किया गया था। धर्मपरिषद के घोषित उद्देश्यों में से कुछ थे - दुनिया के विभिन्न धर्मों द्वारा साँझा की जाने वाली महत्वपूर्ण सच्चाइयों को प्रस्तुत करना और पृथ्वि के देशों को अधिक मैत्रीपूर्ण संबंधों में जोड़ना। लेकिन कई लोगों ने यह सोचा और उम्मीद की थी कि वह अन्य धर्मों पर उनके अपने धर्म की श्रेष्ठता साबित करेगी। लेकिन, ईश्वरीय योजना से, अंततः सभी धर्मों की वैधता धर्मपरिषद का मूल विषय (कीनोट) बन गई और स्वामी विवेकानंद उस

केंद्रीय विषय के सबसे प्रभावशाली और ओजस्वी प्रवक्ता बने।

विश्व-धर्मपरिषद का पहला सत्र, सोमवार, ११ सितंबर, १८९३ को आर्ट इंस्टीट्यूट के विशाल सभागृह में आयोजित किया गया था। सभागृह ४,००० से अधिक लोगों से खचाखच भरा हुआ था - ये पुरुष और महिलाएँ संयुक्त राज्य अमेरिका की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। सभी संगठित धर्मों... बौद्ध, ईसाई, कन्फ्यूशियस, हिंदू, जैन, यहूदी, इस्लाम, शिंतो, ब्रह्मो समाज और पारसी धर्म के प्रतिनिधि वहाँ मौजूद थे। और उनके बीच स्वामी विवेकानंद भी थे, जो मौन प्रार्थना में लीन थे और अपनी प्रभावशाली उपस्थिति से सभी दर्शकों का ध्यान आकर्षित कर रहे थे।

परिषद की शुरुआत एक प्रार्थना के साथ हुई। उसके बाद, अध्यक्ष, रेवरेंड जे. एच. बैरोज़ ने एक-एक कर के प्रतिनिधियों का परिचय कराया, जिन्होंने फिर अपने तैयार भाषण पढ़े। लेकिन स्वामीजी के पास ऐसा कोई लिखित भाषण नहीं था और उन्होंने इससे पहले कभी इतनी बड़ी सभा को संबोधित नहीं किया था। वे सुबह के सत्र में नहीं बोले और अध्यक्ष के बुलावे को बारबार टालते रहे।

दोपहर में, जब वे अपनी बारी को और अधिक नहीं टाल सके, तो स्वामीजी मंच पर आए। उनका चेहरा अग्नि की तरह चमक रहा था। ज्ञान की देवी, माता सरस्वती को मन ही मन नमन करते हुए उन्होंने अपना वक्तव्य शुरू किया। जैसे ही उन्होंने सभा को 'अमेरिका के बहनों और भाईओं' कहकर संबोधित किया, श्रोताओं में उत्साह की एक जबरदस्त लहर दौड़ गई। लोग दीवानों की तरह, तालियों की गड़गड़ाहट के साथ, अपने पैरों पर खड़े हो गए। हर कोई बस दाद दे रहा था, उत्साह बढ़ा रहा था और सराहना कर रहा था!!! स्वामीजी हैरान रह गए। पूरे दो मिनट तक उन्होंने बोलने का प्रयास किया, लेकिन दर्शकों के अत्यधिक उत्साह ने उन्हें ऐसा करने नहीं दिया। अन्य वक्ताओं ने सभा को पारंपरिक तरीके से संबोधित किया था, लेकिन स्वामीजी ने औपचारिकता को छोड़कर, लोगों

के प्रति अपनेपन को दर्शाकर, उनके दिल के सबसे गहरे तार को छू लिया था। तालियाँ थमने के बाद स्वामीजी ने एक संक्षिप्त भाषण दिया।

जब स्वामी विवेकानंद का भाषण समाप्त हुआ और वे भावविभोर होकर बैठ गये, तब एक बार फिर तालियों की जबरदस्त गड़गड़ाहट हुई। अगले दिन सभी समाचार पत्रों ने उन्हें संसद के सबसे महान व्यक्तित्व और सर्वश्रेष्ठ वक्ता के रूप में सराहा। एक अज्ञात युवा संन्यासी पूरे संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रसिद्ध हो गया था। शिकागो में अनेक जगहों पर सड़क के किनारे स्वामीजी के आदमकाय चित्र लगाए गए, जिनके नीचे उनका नाम लिखा था। कई लोग उन तस्वीरों के सामने सिर झुकाकर उनके प्रति श्रद्धा प्रकट कर रहे थे।

इसके पश्चात, धर्मपरिषद में, अपने भाषणों में, स्वामी विवेकानंद ने सभी धर्मों की वैधता और आपसी सामंजस्य के विचार पर बार-बार जोर दिया। उन्होंने हर व्यक्ति से अपनी व्यक्तिगत पहचान बनाए रखने और साथ ही दूसरों के धर्मों की अच्छी बातें सीखने और उनमें स्थित मूल भावना को आत्मसात करने की याचना की।

२७ सितंबर, १८९३ को विश्व-धर्मपरिषद के अंतिम सत्र में अपने संबोधन में, स्वामीजी ने विश्व शांति और एकता को बढ़ावा देने के लिए इतने भव्य और शानदार आयोजन की सफल मेज़बानी करने के लिए आयोजकों को धन्यवाद दिया और बधाई दी। उन्होंने दर्शकों को उनकी उदारता और अपार प्रेम और समर्थन के लिए भी धन्यवाद दिया।

समापन समारोह में अपने अंतिम भाषण में स्वामी विवेकानंद ने कहा...

"इस सर्वधर्मपरिषद ने जगत के समक्ष यदि कुछ प्रदर्शित किया है, तो वह यह है :

उसने यह सिद्ध कर दिखाया है कि पवित्रता, शुद्धता और परोपकार दुनिया के किसी भी विशेष धर्म की अनन्य संपत्ति नहीं हैं। प्रत्येक धर्म

ने अत्यंत श्रेष्ठ और उच्च चरित्र वाले स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है। इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद भी यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्य सारे धर्म नष्ट हो जाएँगे और केवल असका धर्म ही अपनी सर्वश्रेष्ठता के कारण जीवित रहेगा, तो उस पर मैं हृदय के अंतस्तल से दया करता हूँ और उसे स्पष्ट बताना चाहता हूँ कि वह दिन दूर नहीं है, जब उस जैसे लोगों के अड़गों के बावजूद, प्रत्येक धर्म की पताका पर, स्वर्णाक्षरों में लिखा होगा...

**"सहयोग, न कि विरोध; पर-भाव ग्रहण, न कि पर-भाव विनाश;
समन्वय और शांति, न कि मतभेद और कलह"!!!!**

* * *

हिन्दी ज्युनियर (कक्षा ५ से ७)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

३. सच्ची उपासना

एक बार स्वामीजी श्री रामेश्वर-मन्दिर में गये थे। वहाँ एकत्रित जनता को दो शब्द कहने के लिए उनसे प्रार्थना की गयी। उस अवसर पर स्वामीजी ने निम्नलिखित शब्दों में भाषण दिया -

धर्म प्रेम में ही है, अनुष्ठानों में नहीं; और वह भी हार्दिक प्रेम जो शुद्ध तथा निष्कपट हो। यदि मनुष्य शरीर तथा मन, दोनों से शुद्ध नहीं है तो उसका मन्दिर में जाकर शिवोपासना करना व्यर्थ ही है। उन्हीं लोगों की प्रार्थना को, जो शरीर तथा मन से शुद्ध हैं, शिव सुनते हैं और इसके विपरीत जो लोग अशुद्ध होकर भी दूसरों को धर्म की शिक्षा देते हैं, वे अन्त में निश्चय ही असफल रहेंगे। बाह्य पूजा मानस-पूजा का प्रतीक मात्र है। असल में मानस-पूजा तथा चित्त की शुद्धि ही सच्ची चीजें हैं। इनके बिना बाह्य पूजा से कोई लाभ नहीं। इसका सदैव मनन करना चाहिए। अतः तुम सभी को यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए ॥

आजकल कलियुग में लोगों का इतना अधिक मानसिक पतन हो गया है कि वे यह समझ बैठे हैं कि वे चाहे जितना भी पाप करते रहें, परन्तु उसके बाद यदि वे किसी पुण्य तीर्थ में चले जायें, तो उनके सारे पाप नष्ट हो जायेंगे। पर यदि कोई मनुष्य अशुद्ध मन से मन्दिर में जाता है तो उसका पाप और भी अधिक बढ़ जाता है तथा वह

अपने घर निम्नतर स्थिति में वापस जाता है।

तीर्थ वह स्थान है, जहाँ शुद्ध पवित्र लोग रहते हैं तथा पवित्र वस्तुओं से परिपूर्ण है। किसी स्थान पर पवित्र लोग रहने लगे और यदि वहाँ कोई मन्दिर न भी हो, तो भी वह स्थान तीर्थ बन जाता है। इसी प्रकार किसी ऐसे स्थान में जहाँ सैकड़ों मन्दिर हों, यदि अशुद्ध लोग रहने लगे तो यह समझ लेना चाहिये कि उस स्थान का तीर्थत्व नष्ट हो गया है। अतएव किसी तीर्थ-स्थान में रहना भी बड़ा कठिन काम है, क्योंकि यदि किसी साधारण स्थान पर कोई पाप किया जाता है तो उससे तो छुटकारा सरलता से हो सकता है, परन्तु किसी तीर्थ-स्थान में किया हुआ पाप कभी भी दूर नहीं किया जा सकता।

समस्त उपासनाओं का यही मर्म है कि मनुष्य शुद्ध रहे तथा दूसरों का सदैव भला करे। वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है वही सचमुच शिव की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा-शुश्रूषा बिना जाति-पाँति अथवा ऊँच-नीच के भेद-भाव के विचार से कर ली है तो शिव उस मनुष्य से दूसरे एक मनुष्य की अपेक्षा, जो कि उन्हें केवल मन्दिर में देखता है, अधिक प्रसन्न होंगे।

अन्यान्य अवसरों पर, 'शिव-भाव से जीव सेवा' इस विषय पर, अपने वक्तव्य में स्वामीजी ने कहा -

प्रश्न यह उठता है कि हम संसार का भला क्यों करें? वास्तव में बात यह है कि ऊपर से तो हम संसार पर उपकार करते हैं। परन्तु असल में हम अपना ही भला करते हैं। ...एक दाता के ऊँचे आसन पर खड़े होकर और अपने हाथ में दो पैसे लेकर यह मत कहो, "ऐ भिखारी, ले, यह मैं तुझे देता हूँ।" परन्तु तुम स्वयं इस बात के लिए कृतज्ञ

होओ कि तुम्हें वह निर्धन व्यक्ति मिला, जिसे दान देकर तुमने स्वयं अपना उपकार किया। धन्य पानेवाला नहीं होता, देनेवाला होता है। इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि इस संसार में तुम्हें अपनी दयालुता का प्रयोग करने और इस प्रकार पवित्र एवं पूर्ण होने का अवसर प्राप्त हुआ।

सब प्रकार की नीति, शुभ तथा मंगल का मूलमन्त्र 'मैं' नहीं, 'तुम' है। कौन सोचता है कि स्वर्ग और नरक है या नहीं? कौन सोचता है कि मेरी आत्मा है या नहीं? कौन सोचता है कि कोई अनश्वर सत्ता है या नहीं? हमारे सामने यह सारा संसार है जो महादुःख से परिपूर्ण है। बुद्ध के समान इस संसार-सागर में गोता लगाकर या तो इस संसार के दुःख को दूर करो या इस प्रयत्न में प्राण त्याग दो। अपने को भूल जाओ; आस्तिक हो या नास्तिक, अज्ञेयवादी हो या वेदान्ती, ईसाई हो या मुसलमान - प्रत्येक के लिए यही सब से पहला पाठ है।

एकमात्र बुद्ध ही ऐसे महापुरुष थे, जो कहते थे, "मैं ईश्वर के बारे में तुम्हारे मत-मतान्तरों को जानने की परवाह नहीं करता। आत्मा के बारे में विभिन्न सूक्ष्म मतों पर बहस करने से क्या लाभ? भला करो और भले बनो। केवल वही व्यक्ति सब की अपेक्षा उत्तम रूप से कार्य करता है, जो पूर्णतया निःस्वार्थ है, जिसे न तो धन की लालसा है, न कीर्ति की और न किसी अन्य वस्तु की ही।

स्वार्थपरता ही, अर्थात् स्वयं के सम्बन्ध में पहले सोचना ही सब से बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं पहले खा लूँ, मुझे ही सब से अधिक धन मिल जाये, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सब से पहले मुक्ति हो जाये तथा मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ, वह निश्चय ही स्वार्थी है। निःस्वार्थी व्यक्ति तो यह कहता है, "मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से भी किसी को लाभ हो सकता है तो भी मैं उसके लिए तैयार हूँ।" यह निःस्वार्थता ही धर्म की परीक्षा है। जिसमें जितनी ही अधिक निःस्वार्थता है वह

उतना ही आध्यात्मिक है तथा उतना ही शिवजी के समीप है।

तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, तुम्हें केवल सेवा का अधिकार है। यदि ईश्वर के अनुग्रह से उसकी किसी सन्तान की सेवा कर सकोगे तो तुम धन्य हो जाओगे। अपने को ही बहुत बड़ा मत समझो। तुम धन्य हो क्योंकि सेवा करने का तुमको अधिकार मिला है और दूसरों को नहीं मिला। यह सेवा तुम्हारे लिए पूजा के तुल्य है।

हम धन्य हैं, जो हमें यह सौभाग्य प्राप्त है कि हम प्रभु के लिए कर्म करें - उनको सहायता देने के लिए नहीं। इस 'सहायता' शब्द को मन से सदा के लिए निकाल दो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते। यह सोचना कि तुम सहायता कर सकते हो, महापातक है, ईश्वर की घोर निन्दा है। तुम स्वयं उनकी इच्छा से यहाँ पर हो। क्या तुम्हारे कहने का यह तात्पर्य है कि तुम उनकी सहायता करते हो? नहीं, सहायता नहीं, तुम उनकी पूजा करते हो। जब तुम कुत्ते को एक ग्रास खाना देते हो, तब तुम कुत्ते की ईश्वर-रूप से पूजा करते हो। भगवान उस कुत्ते में हैं- कुत्ते के रूप में प्रकट हुए हैं। वे ही सर्वस्व हैं, सर्वभूतों में हैं।

इस संसाररूप नरककुण्ड में एक दिन के लिए भी किसी व्यक्ति के चित्त में थोड़ा सा आनन्द एवं शान्ति प्रदान की जा सके तो उतना ही सत्य है, आजन्म मैं तो यही देख रहा हूँ, बाकी सब कुछ व्यर्थ की कल्पनाएँ हैं।

समस्त उपासनाओं का यही रहस्य तथा मर्म है कि मनुष्य शुद्ध रहे तथा दूसरों के प्रति सदैव भला करे। वह मनुष्य जो शिवजी को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है, वही सचमुच शिवजी की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है।

‘साधुओं का जीवन परोपकार के लिए ही है, प्राज्ञ व्यक्तियों को दूसरों के लिए सब कुछ त्याग देना चाहिए’ – संसार में यही एकमात्र रास्ता है। तुम्हारी भलाई करने से मेरी भी भलाई है, दूसरा कोई उपाय नहीं है, बिलकुल नहीं है।

गाँव गाँव तथा घर घर में जाकर लोकहित एवं ऐसे कार्यों में आत्मनियोग करो, जिससे जगत का कल्याण हो सके। चाहे अपने को नरक में क्यों न जाना पड़े, परन्तु दूसरों की मुक्ति हो। ...मृत्यु जब अवश्यम्भावी है, तब सत्कार्य के लिए प्राण त्याग करना ही श्रेय है।

जगत के इतिहास से तुम जानते हो कि महापुरुषों ने बड़े बड़े स्वार्थत्याग किये और उनके शुभ फल का भोग जनता ने ही किया। अगर तुम अपनी ही मुक्ति के लिए सब कुछ त्यागना चाहते हो तो फिर त्याग कैसा? क्या तुम संसार के कल्याण के लिए अपनी मुक्तिकामना तक छोड़ने को तैयार हो?

लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के अग्निमन्त्र से दीक्षित होकर, भगवान के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर और गरीबों, पतितों तथा पददलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह के समान साहसी बनकर इस सम्पूर्ण भारत देश में सर्वत्र उद्धार के सन्देश का, सेवा के सन्देश का, सामाजिक उत्थान के सन्देश का, समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे।

पहले अपने कमरे का दरवाजा और खिड़कियाँ खुली रखनी होगी। तुम्हारे घर के पास, बस्ती के पास, कितने अभावग्रस्त तथा दुःखी लोग रहते हैं, उनकी तुम्हें यथासाध्य सेवा करनी होगी। जो पीड़ित हैं, उनके लिए औषधि और पथ्य का प्रबन्ध करो और उनकी सेवा-शुश्रूषा करो। जो भूखा है उसके लिए खाने का प्रबन्ध करो। जो अज्ञानी है, उसे वाणी द्वारा जहाँ तक हो सके समझाओ। इस प्रकार अपने भाइयों की यथासाध्य सेवा करो। यदि तुम इस प्रकार कर सकोगे, तो तुम्हारे

मन को अवश्य शान्ति मिलेगी।

ऊँचे पदवालों या धनिकों का भरोसा न करना। उनमें जीवनशक्ति नहीं है। भरोसा तुम लोगों पर है; गरीब, पद-मर्यादा रहित किन्तु विश्वासी, तुम्हीं लोगों पर। ईश्वर पर भरोसा रखो। किसी चालबाज़ी की आवश्यकता नहीं; उससे कुछ भी नहीं होता। दुखियों का दर्द समझो और ईश्वर के पास सहायता की प्रार्थना करो - सहायता अवश्य मिलेगी।

मेरे नवयुवको, मैं गरीब, भूखों और उत्पीड़ितों के लिए सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पण करता हूँ।.... अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार के लिए अर्पण कर देने का व्रत लो, जो दिनोंदिन डूबते जा रहे हैं।

इस जन्म में यह देह दूसरों की सेवा में दे जा। मैंने इतनी तपस्या करके यही सार समझा है, जीव जीव में वे ही अधिष्ठित हैं। ये सब उन्हीं के अभिव्यक्त रूप हैं। जो व्यक्ति जीवों की सेवा करता है, एकमात्र वही ईश्वर की पूजा कर रहा है।

* * *

हिन्दी सिनियर (कक्षा ८ से १०)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।
२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।
३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

१. श्री रामकृष्ण और उनका जीवनोद्देश्य—स्वामी विवेकानंद

हमारे देश में सबसे अधिक आदर तथा सम्मान गुरु को मिलता है तथा हमारी ऐसी श्रद्धा रहती है कि गुरु साक्षात् ईश्वर ही हैं। उतनी श्रद्धा हमें अपने माता-पिता के लिए भी नहीं होती। माता-पिता हमें केवल जन्म ही देते हैं, परन्तु गुरु हमें मुक्ति-मार्ग दिखाते हैं। हम गुरु की सन्तान हैं—उनके मानस-पुत्र हैं। किसी असाधारण महापुरुष के दर्शन करने हज़ारों हिन्दू आते हैं और वे उसके चारों ओर भीड़ लगा लेते हैं।

मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंस एक ऐसे ही महापुरुष थे, परन्तु उन्हें यह ध्यान ही नहीं था कि उनको मान-प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए अथवा नहीं। उन्हें इस बात का रंचमात्र भी भास नहीं था कि वे एक बड़े गुरु हैं। उनको तो यही ध्यान था कि जो कुछ हो रहा है, वह सब जगन्माता ही करा रही है तथा वे स्वयं कुछ नहीं कर रहे हैं। वे सदैव यही कहा करते थे कि यदि मेरे मुँह से कोई अच्छी बात निकलती है, तो वे जगन्माता के ही शब्द होते हैं—मैं स्वयं कुछ नहीं कहता। अपने प्रत्येक कार्य के सम्बंध में उनका यही विचार रहा करता था और महासमाधि के समय तक उनका यही विचार स्थिर रहा।

मेरे गुरुदेव किसी को ढूँढ़ने नहीं गये। उनका सिद्धान्त यह था कि मनुष्य को प्रथम चरित्रवान होना चाहिए तथा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उसके बाद फल स्वयं ही मिल जाता है। वे बहुधा एक दृष्टान्त दिया

करते थे कि 'जब कमल खिलता है तो मधुमक्खियाँ स्वयं ही उसके पास मधु लेने के लिए आ जाती हैं'। इसी प्रकार जब तुम्हारा चरित्ररूपी पंकज पूर्ण रूप से खिल जायेगा और जब तुम आत्मज्ञान प्राप्त कर लोगे, तब देखोगे कि सारे फल तुम्हें अपने आप ही प्राप्त हो जायेंगे।' हम सब लोगों के लिए यह एक बहुत बड़ी शिक्षा है। मेरे गुरुदेव ने यह शिक्षा मुझे सैंकड़ों बार दी, परन्तु फिर भी मैं इसे प्रायः भूल जाता हूँ।

विचारों की अद्भुत शक्ति को बहुत थोड़े लोग समझ पाते हैं। यदि कोई मनुष्य किसी गुफा के अन्दर चला जाता है और उसमें अपने को बन्द कर किसी एक गहन तथा उदात्त विषय पर एकान्त में निरन्तर एकाग्रचित्त हो मनन करता रहता है और उसी दशा में आजन्म मनन करते करते अपने प्राण भी त्याग देता है, तो उसके उसी विचार की तरंगे गुफा की दीवारों को भेदकर चारों ओर के वातावरण में फैल जाती हैं और अन्त में वे तरंगे सारी मनुष्य जाति में प्रवेश कर जाती हैं। विचारों की यही अद्भुत शक्ति है। अतः अपने विचारों का दूसरों में प्रचार करने के लिए जल्दी नहीं करनी चाहिए। पहले हमारे पास कुछ होना चाहिए, जिसे हम दूसरों को दे सकें। मनुष्य में ज्ञान का प्रसार केवल वही कर सकता है, जिसके पास देने को कुछ हो।

प्रथम हमें चरित्रवान बनना चाहिए और यही सबसे बड़ा कर्तव्य है, जो हमारे सामने है। सत्य का ज्ञान पहले स्वयं को होना चाहिए और उसके बाद उसे तुम दूसरों को सिखा सकते हो, बल्कि वे लोग स्वयं उसे सीखने आयेंगे। यही मेरे गुरुदेव की शैली थी। उन्होंने कभी किसी दूसरे पर टीका नहीं की। वर्षों मैं उनके समीप रहा, परन्तु उनके मुख से कभी किसी दूसरे धर्मपंथ के बारे में बुराई नहीं सुनी। सब धर्मपंथों पर उनकी समान श्रद्धा थी। उन सब में उन्होंने ऐक्यभाव ढूँढ़ लिया था।

मनुष्य ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी, योगमार्गी अथवा कर्ममार्गी हो सकता है। विभिन्न धर्मों में इन विभिन्न भावों में से किसी एक भाव का प्राधान्य देखा जाता है। परन्तु यह भी सम्भव हो सकता है कि इन चारों भावों का मिश्रण एक ही मनुष्य में हो जाये। यही मेरे गुरुदेव की धारणा थी। उन्होंने किसी

को बुरा नहीं कहा, वरन् सब में अच्छाइयाँ ही देखी ।

इन अद्भुत महापुरुष के दर्शन करने तथा उनके उपदेश सुनने के लिए हजारों मनुष्य आते थे। मेरे गुरुदेव गाँव की भाषा में ही बोलते थे, परन्तु उनका प्रत्येक शब्द ओजस्वी होता था। क्योंकि वक्ता का व्यक्तित्व ही उसका प्राण है, यही उसमें शक्ति भर देता है।

इसका अनुभव हम सभी को कभी कभी होता है। हम बहुधा अत्यन्त उत्कृष्ट तथा तर्क-वितर्कपूर्ण ओजस्वी भाषण सुनते हैं, परन्तु जब हम घर जाते हैं, तो सब भूल जाते हैं। पर कभी कभी हम बहुत थोड़े से शब्द सुनते हैं और वह भी अत्यन्त साधारण भाषा में, लेकिन वे हमारे हृदय में प्रवेश कर जाते हैं और हमारे जीवन-रस में घुलकर हम पर चिरस्थायी प्रभाव डाल देते हैं।

मैंने इन महापुरुष के बारे में सुना और उनके उपदेश सुनने गया। गुरुदेव एक अत्यन्त साधारण मनुष्य के समान प्रतीत होते थे तथा उनमें कोई विशेषता नहीं दिखती थी। वे बहुत साधारण भाषा का प्रयोग करते थे। उस समय मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि 'क्या यह पुरुष वास्तव में महान ज्ञानी है? मैं धीरे से उनके पास सरक गया और उनसे वह प्रश्न पूछने लगा, जो मैं अन्य सभी से पूछा करता था । मैंने प्रश्न किया, "महाराज, क्या आप ने ईश्वर को देखा है?" उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ।" मैंने कहा, "क्या आप सिद्ध करके दिखा सकते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ।" मैंने कहा, "कैसे?" उन्होंने उत्तर दिया, "जैसे मैं तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ, उसी प्रकार मैं ईश्वर को देखता हूँ- बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से।" इस उत्तर से मेरे मन पर उसी समय बड़ा असर पड़ा, क्योंकि जीवन में मुझे प्रथम बार ही एक ऐसा पुरुष मिला, जिसने तुरन्त ही यह कह दिया कि मैंने ईश्वर को देखा है और जिस प्रकार हम अपनी इन्द्रियों द्वारा विश्व का अनुभव करते हैं, उससे कहीं अधिक प्रमाण में उसका अनुभव किया जा सकता है। मैं उनके पास दिन-प्रतिदिन जाने लगा और मैंने यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया कि धर्म भी दूसरे को 'दिया' जा सकता है, केवल एक ही स्पर्श तथा एक

ही दृष्टि में सारा जीवन बदला जा सकता है।

मैंने महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह तथा मुहम्मद के बारे में एवं पुराणकालीन अन्य महात्माओं के विषय में पढ़ा है। वे किसी भी मनुष्य के सम्मुख खड़े होकर कह देते थे, 'तू पूर्णता को प्राप्त हो जा'। और वह मनुष्य उसी क्षण पूर्णता को प्राप्त हो जाता था। यह बात अब मुझे सत्य प्रतीत होने लगी और जब मैंने इन महापुरुष के स्वयं दर्शन कर लिये तो मेरी सारी नास्तिकता दूर हो गयी।

धर्म बात करने की चीज़ नहीं है, न वह साम्प्रदायिकता है, न मतवाद विशेष। धर्म किसी सम्प्रदाय, अथवा संस्था में आबद्ध नहीं रह सकता। यह तो आत्मा के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है। अतएव किसी एक संस्था में बद्ध होकर वह कैसे रह सकता है? ऐसा होने से धर्म तो व्यवसाय ही हो जायगा और धर्म जब व्यवसाय बन जाता है, तब धर्म का लोप हो जाता है।

दूसरा एक और अत्यंत महत्वपूर्ण तथा आश्चर्यजनक सत्य मैंने अपने गुरुदेव से सीखा, वह यह है कि संसार में जितने धर्म हैं, वे परस्पर विरोधी या प्रतिरोधी नहीं हैं - वे केवल एक ही चिरन्तन शाश्वत धर्म के भिन्न भिन्न भाव मात्र हैं। एक ही धर्म चिरकाल से समग्र विश्व का आधारस्वरूप रहा है और चिरकाल तक रहेगा, और वही धर्म विभिन्न देशों में, विभिन्न भावों में प्रकाशित हो रहा है।'

'मेरा धर्म अथवा तुम्हारा धर्म,' 'मेरा राष्ट्रीय धर्म तथा तुम्हारा राष्ट्रीय धर्म' अथवा नाना प्रकार के अलग अलग धर्म आदि विषय वास्तव में कभी नहीं थे। संसार में केवल एक ही धर्म है। अनन्त काल से केवल एक ही धर्म चला आ रहा है और सदा वही रहेगा और यही एक धर्म भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रीति से प्रकट होता है। अतएव हमें सब धर्मों को मान देना चाहिए और जहाँ तक हो सके, उनके तत्त्वों में अपना विश्वास रखना चाहिए।

धर्म केवल विभिन्न जाति या विभिन्न देश के अनुसार विभिन्न होता हो, ऐसी बात नहीं; परंतु पात्र के अनुसार भी वह विभिन्न भाव धारण करता

है। किसी मनुष्य में धर्म तीव्र कर्मशीलता के रूप में प्रकट होता है, किसी दूसरे में उत्कट भक्ति के रूप में, किसी तीसरे में योग के रूप में तथा किसी अन्य में तत्त्वज्ञान के रूप में। हम बड़ी भूल करते हैं, यदि धर्म के विषय में किसी से कहते हैं कि 'तुम्हारा मार्ग ठीक नहीं है।'

किसी मनुष्य की श्रद्धा नष्ट करने का प्रयत्न मत करो। यदि हो सके तो उसे जो कुछ अधिक अच्छा हो दे दो, यदि हो सके तो जिस दर्जे पर वह खड़ा हो, उसे सहायता देकर ऊपर उठा दो। परन्तु जिस स्थान पर वह था, उस जगह से उसे नीचे मत गिराओ। सच्चा गुरु वही है, जो क्षण भर में ही अपने को हज़ारों व्यक्तियों में परिणत कर सके। सच्चा गुरु वही है, जो विद्यार्थी को सिखाने के लिए विद्यार्थी की ही मनोभूमि में तुरन्त उतर जाये और अपनी आत्मा अपने शिष्य की आत्मा में एकरूप कर सके। ऐसा ही गुरु शिक्षा दे सकता है, अन्य दूसरा नहीं। अन्य सब निषेधक, निरुत्साहक तथा संहारक गुरु कभी भलाई नहीं कर सकते।

अपने गुरुदेव के सहवास में रहकर मैंने यह जान लिया कि इस जीवन में ही मनुष्य पूर्णावस्था को पहुँच सकता है। उनके मुख से कभी किसी के लिए दुर्वचन नहीं निकले और न उन्होंने कभी किसी में दोष ढूँढ़ा। उनकी आँखें कोई बुरी चीज़ देख ही नहीं सकती थीं और न उनके मन में कभी बुरे विचार ही प्रवेश कर सकते थे। उन्हें जो कुछ दिखा, वह अच्छा ही दिखा। यही महान पवित्रता तथा महान त्याग आध्यात्मिक जीवन का रहस्य है।

वेदों का कथन है -

"अमरत्व न तो धन से प्राप्त हो सकता है, न सन्तति से। वह तो केवल वैराग्य से ही पाया जा सकता है"। ईसा मसीह का भी कथन है कि 'जो कुछ तेरे पास है, वह सब बेच डाल और निर्धनों को दे दे और मेरा अनुसरण कर।' यही भाव सब साधु-सन्तों तथा पैगम्बरों ने भी प्रकट किया और उसे अपने जीवन काल में निभाया है। आध्यात्मिकता बिना त्याग के कैसे प्राप्त हो सकती है? सभी धर्मभावों की पृष्ठभूमि केवल त्याग ही है

और तुम यह सदैव देखोगे कि जैसे जैसे त्याग का भाव क्षीण होता जाता है, वैसे वैसे धर्म के क्षेत्र में इन्द्रियों का प्रभाव बढ़ता जाता है और उसी प्रमाण में आध्यात्मिकता का पतन होता जाता है ।

मेरे गुरुदेव त्याग की साकार मूर्ति थे। हमारे देश में जो पुरुष संन्यासी होता है, उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह सारी सांसारिक सम्पत्ति तथा सामाजिक स्थिति का त्याग कर दे। मेरे गुरुदेव ने इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन किया। ऐसे बहुत से लोग थे, जो अपने को धन्य मानते, यदि गुरुदेव उनसे कोई भेंट ग्रहण कर लेते और यदि वे स्वीकार करते, तो वे लोग उन्हें हज़ारों रुपये दे देते; परन्तु गुरुदेव ऐसे ही लोभों से दूर भागते थे। काम-कांचन पर पूर्ण विजय के वे जीवंत उदाहरण थे। वे इन दोनों बातों की कल्पना के भी परे थे। इस शताब्दी के लिए ऐसे ही महापुरुषों की आवश्यकता है।

आजकल के दिनों में ऐसे ही त्याग की आवश्यकता है; विशेषकर जब लोग यह समझते हैं कि उन चीज़ों के बिना वे एक मास भी जीवित नहीं रह सकते, जिन्हें वे अपनी आवश्यकताएँ कहते हैं और जिनकी संख्या वे दिन पर दिन अधिकाधिक बढ़ाते जा रहे हैं। आज-कल के समय में ही यह आवश्यक है कि कोई एक ऐसा मनुष्य उठकर संसार के अविश्वासी पुरुषों को यह दिखा दे कि आज भी एक ऐसा महापुरुष है, जो संसार भर की सम्पत्ति तथा कीर्ति की तृणभर भी परवाह नहीं करता - और आज संसार में ऐसे पुरुष हैं भी।

गुरुदेव के जीवन का महान तत्त्व — दूसरों के प्रति अगाध प्रेम था। उनके जीवन का पूर्वार्ध धर्मोपार्जन में लगा रहा तथा उत्तरार्ध उसके वितरण में।

आदमियों के झुण्ड के झुण्ड गुरुदेव के श्रीवचन सुनने आते थे और वे चौबीस घण्टों में से बीस घण्टे उनसे बातें करते रहते थे। वह भी एक दिन की बात नहीं, बल्कि महिनों यही क्रम जारी रहा। जिसका फल यह हुआ कि अन्त में उनका शरीर अत्याधिक परिश्रम के कारण टूट गया। उन्हें

मानव जाति के प्रति इतना अगाध प्रेम था कि उनके पास कृपा-लाभार्थ आनेवाले हज़ारों में से अत्यन्त सामान्य मनुष्य भी उस कृपा-लाभ से वंचित नहीं रहता था। फलस्वरूप धीरे धीरे उन्हें गले का एक बड़ा भयंकर रोग हो गया। फिर भी, आग्रह करने पर भी वे इतनी मेहनत करना नहीं छोड़ते थे। जैसे ही वे सुनते कि बाहर आये हुए लोग उनसे मिलने के इच्छुक हैं, तो उन्हें अन्दर बुलाये बिना वे नहीं मानते थे और उनके सभी प्रश्नों का उत्तर देते थे। जब उन्हें ऐसा करने से रोका जाता था, तो वे उत्तर देते थे, 'मैं परवाह नहीं करता। यदि एक भी मनुष्य की सहायता हो सके, तो मैं ऐसे हज़ारों शरीर छोड़ने को तैयार हूँ। एक आदमी की भी सहायता करना अपूर्व पुरुषार्थ है।' उनके लिए विश्राम मानो था ही नहीं।

एक बार एक मनुष्य ने उनसे पूछा, "महाराज, आप बड़े योगी हैं। आप अपना मन थोड़ा अपने शरीर की ओर ही क्यों नहीं लगा देते, जिससे आपकी बीमारी ठीक हो जाय?" "पहले तो उन्होंने उत्तर नहीं दिया, परन्तु जब वही प्रश्न कई बार पूछा गया तो उन्होंने धीरे से कहा, "मित्र, मैं समझता था कि तुम ज्ञानी हो, परन्तु तुम भी संसार के अन्य लोगों के समान ही बातें करते हो। यह सारा मन मैंने ईश्वरार्पण कर दिया है तो क्या अब मैं इसे वापस ले लूँ और इसे इस शरीर में लगाऊँ, जो आत्मा का केवल पिंजड़ा है?"

आज श्रीरामकृष्ण परमहंस का नाम भारत में लाखों लोगों को ज्ञात है। इतना ही नहीं, उनका यश भारत के बाहर भी फैल गया है। इस संसार में सत्य के सम्बन्ध में अथवा आध्यात्मिक ज्ञान के बारे में यदि मैं कहीं एक शब्द भी कभी बोला हूँ तो उसका सारा श्रेय मेरे गुरुदेव को है, भूलें केवल मेरी हैं।

अतः मेरे गुरुदेव का मानव जाति के लिए यह सन्देश है कि 'प्रथम स्वयं धार्मिक बनो और सत्य की उपलब्धि करो।' वे चाहते थे कि तुम अपने भ्रातृ-स्वरूप समग्र मानव जाति के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग दो। उनकी ऐसी इच्छा थी कि भ्रातृ-प्रेम के विषय में बातचीत बिल्कुल न करो, परन्तु अपने शब्दों को सिद्ध करके दिखाओ।

त्याग तथा प्रत्यक्षानुभूति का समय आ गया है, और इनसे ही तुम जगत के सभी धर्मों में सामंजस्य देख पाओगे। तब तुम्हें प्रतीत होगा कि आपस में झगड़े की कोई आवश्यकता नहीं है और तभी तुम समग्र मानव जाति की सेवा करने के लिए तैयार हो सकोगा।

इस बात को स्पष्ट रूप से दिखा देने के लिए कि सब धर्मों में मूल तत्व एक ही है, मेरे गुरुदेव का अवतार हुआ था। अन्य धर्म-संस्थापकों ने स्वतन्त्र धर्मों का उपदेश दिया था और वे धर्म उनके नाम से प्रचलित हैं; परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के इन महापुरुष ने स्वयं के लिए कोई भी दावा नहीं किया। उन्होंने किसी धर्म का खंडन नहीं किया, क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया था कि वास्तव में सब धर्म एक ही 'चिरन्तन धर्म' के अभिन्न अंग हैं।

* * *

हिन्दी सिनियर (कक्षा ८ से १०)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

२. स्वामी विवेकानंद का पूर्व में प्रथम सार्वजनिक व्याख्यान

एक समय था, जब यूनानी सेना के रण-कूच के दर्प से संसार काँप उठता था। पर आज वह कहाँ है? आज तो उसका चिह्न तक कहीं दिखायी नहीं देता। यूनान देश का गौरव आज अस्त हो गया है। एक समय था, जब प्रत्येक पार्थिव भोग्य वस्तु के ऊपर रोम की गरुडांकित विजय-पताका फहराया करती थी। रोमन लोग सर्वत्र जाते और मानव जाति पर प्रभुत्व प्राप्त करते थे। रोम का नाम सुनते ही पृथ्वी काँप उठती थी। पर आज उसी रोम का कैपिटोलाईन पहाड़ एक भग्नावशेष का ढेर मात्र है। जहाँ सीज़र राज्य करता था, वहाँ आज मकड़ी जाल बुनती है। इसी प्रकार कितने ही वैभवशाली राष्ट्र उठे और गिरे। विजयोल्लास और भावावेशपूर्ण प्रभुत्व का कुछ काल तक कलुषित राष्ट्रीय जीवन बिताकर, सागर की तरंगों की तरह उठकर फिर मिट गये। इसी प्रकार ये सब राष्ट्र मनुष्य-समाज पर किसी समय अपना चिह्न अंकित कर अब मिट गये हैं।

यह ठीक है कि संसार के अन्यान्य स्थानों में सभ्यता का विकास हुआ है। प्राचीन और वर्तमान काल में कितनी ही शक्तिशाली तथा महान जातियों ने उच्च भावों को जन्म दिया है। पुराने समय में और आजकल भी बहुत से अनोखे तत्त्व एक जाति से दूसरी जाति में पहुँचे हैं, और यह भी ठीक है कि किसी किसी राष्ट्र की गतिशील जीवन तरंगों ने महान शक्तिशाली सत्य के बीजों को चारों ओर बिखेरा है।

परन्तु भाईयों! तुम यह भी देख पाओगे कि ऐसे सत्य का प्रचार हुआ है - रणभेरी की गर्जना तथा रण सज्जा से सज्जित सेना-समूह की सहायता से। बिना रक्त प्रवाह में डूबे हुए, बिना लाखों स्त्री-पुरुषों के खून की नदी में स्नान किये, कोई भी नया भाव आगे नहीं बढ़ा। प्रत्येक ओजस्वी भाव के प्रचार के साथ ही साथ असंख्य लोगों का हाहाकार, अनाथों और असहायों का करुण क्रन्दन और विधवाओं का निरंतर अश्रुपात होते देखा गया है। प्रधानतः इसी उपाय द्वारा अन्यान्य देशों ने संसार को शिक्षा दी है, परन्तु इस उपाय का अवलम्बन किये बिना ही भारत हजारों वर्षों से शान्तिपूर्वक जीवित रहा है।

जब यूनान का अस्तित्व नहीं था, रोम भविष्य के अंधकार-गर्भ में छिपा हुआ था, जब आधुनिक युरोपियनों के पुरखे घने जंगलों के अन्दर छिपे रहते थे और अपने शरीर को नीले रंग से रंगा करते थे, तब भी भारत क्रियाशील था। उससे भी पहले, जिस समय का इतिहास में कोई लेखा नहीं है, जिस सुदूर धुँधले अतीत की ओर झाँकने का साहस परम्परा को भी नहीं होता, उस काल से लेकर अब तक न जाने कितने ही भाव एक के बाद एक भारत से प्रसृत हुए हैं, पर उनका प्रत्येक शब्द, आगे शान्ति तथा पीछे आशीर्वाद के साथ कहा गया है। संसार के सभी देशों में केवल एक हमारे ही देश ने लड़ाई-झगड़ा करके किसी अन्य देश को पराजित नहीं किया है - इसका शुभ आशीर्वाद हमारे साथ है और इसीसे हम अब तक जीवित हैं।

हजारों वर्षों के सुचिन्तित तथा परीक्षित वे ही प्राचीन विधान आज भी भारत में विद्यमान हैं। शताब्दियों के अनुभव और युगों की अभिज्ञता के फलस्वरूप वही सनातन आचार-विचार यहाँ आज भी मौजूद हैं। और जितने ही दिन बीतते जा रहे हैं, जितने ही दुःख-दुविधा आते हैं और उनपर लगातार आघात करते हैं, उनसे केवल यही परिणाम होता है कि वे और भी मजबूत, और भी स्थायी रूप धारण करते जा रहे हैं। और इन सब का केन्द्र कहाँ है? किस हृदय से रक्त संचार हो

रहा है? और हमारे राष्ट्रीय जीवन का मूल स्रोत कहाँ है? इसका उत्तर है — धर्म । सारी दुनिया के अनुभव के बाद ही मैं यह कह रहा हूँ।

अन्यान्य राष्ट्रों के लिए धर्म, संसार के अनेक कृत्यों में एक कर्म मात्र है। वहाँ राजनीति है, सामाजिक जीवन की सुख-सुविधाएँ हैं, धन तथा प्रभुत्व द्वारा जो कुछ प्राप्त हो सकता है और इन्द्रियों को जिससे सुख मिलता है उन सब के पाने की चेष्टा भी है। इन सब विभिन्न जीवन व्यापारों के भीतर तथा भोग से निस्तेज हुई इन्द्रियों को पुनः उत्तेजित करने के लिए उपकरणों की समस्त खोज के साथ, वहाँ सम्भवतः थोड़ा बहुत धर्म-कर्म भी है। परन्तु यहाँ, भारतवर्ष में, मनुष्य की सारी चेष्टाएँ धर्म के लिए हैं, धर्म ही उपजीविका का एकमात्र साधन है।

प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई विशेषता होती है, प्रत्येक व्यक्ति भिन्न भिन्न मार्गों से उन्नति की ओर अग्रसर होता है। हम कहते हैं, पिछले अनन्त जीवनो के कर्मों द्वारा मनुष्य का वर्तमान जीवन एक निश्चित मार्ग से चलता है। क्योंकि अतीत काल के कर्मों की समष्टि ही वर्तमान में प्रकट होती है; और वर्तमान समय में हम जो कुछ कर्म कर रहे हैं, हमारा भावी जीवन उसीके अनुसार गठित हो रहा है। इसीलिए यह देखने में आता है कि इस संसार में जो कोई आता है, उसका एक न एक ओर विशेष झुकाव होता है, उस ओर मानो उसे जाना ही पड़ेगा, मानो उस भाव का अवलम्बन किए बिना वह जी ही नहीं सकता। यह बात जैसे व्यक्तिमात्र के लिए सत्य है, वैसे ही जाति के लिए भी। प्रत्येक जाति का भी उसी तरह किसी न किसी तरफ विशेष झुकाव हुआ करता है। मानो प्रत्येक जाति का एक विशेष जीवनोद्देश्य हुआ करता है।

हर एक जाति को, समस्त मानव जाति के जीवन को सर्वांग सम्पूर्ण बनाने के लिए किसी व्रत विशेष का पालन करना होता है। अपने व्रत विशेष को पूर्णतः सम्पन्न करने के लिए मानो हर एक जाति को उसका पालन करना ही पड़ेगा।

राजनीतिक श्रेष्ठता या सामाजिक शक्ति प्राप्त करना किसी काल में हमारी जाति का जीवनोद्देश्य न कभी रहा है और न इस समय ही है और यह भी याद रखो कि न तो वह कभी आगे ही होगा। हाँ, हमारा दूसरा ही जातीय जीवनोद्देश्य रहा है। वह यह है कि समग्र जाति की आध्यात्मिक शक्ति को मानो किसी डाइनेमो में संग्रहित, संरक्षित और नियोजित किया गया हो और कभी मौक़ा आने पर वह संचित शक्ति सारी पृथ्वी को एक जलप्लावन में बहा देगी। जब कभी फारस, यूनान, रोम, अरब या इंग्लैंड वाले अपनी सेनाओं को लेकर दिग्विजय के लिए निकले और उन्होंने विभिन्न राष्ट्रों को एक सूत्र में बाँध दिया है, तभी भारत के दर्शन और अध्यात्म, नवनिर्मित मार्गों द्वारा संसार की जातियों की धमनियों में होकर प्रवाहित हुए हैं। समस्त मानवीय प्रगति में शान्तिप्रिय भारतीयों का कुछ अपना योगदान भी है। आध्यात्मिक आलोक ही भारत का वह दान है।

इस प्रकार इतिहास पढ़कर हम देखते हैं कि जब कभी अतीत में किसी प्रबल दिग्विजयी राष्ट्र ने संसार की अन्यान्य जातियों को एक सूत्र में ग्रथित किया है, और भारत को उसके एकान्त से निकालकर अन्यान्य जातियों के साथ उसका सम्मेलन कराया है – जब कभी ऐसी घटना घटी है, तभी परिणामस्वरूप भारतीय आध्यात्मिकता से सारा संसार व्याप्त हो गया है।

जो लोग आँखें खोले हुए हैं, जो पाश्चात्य जगत की विभिन्न राष्ट्रों के मनोभावों को समझते हैं, जो विचारशील हैं तथा जिन्होंने भिन्न भिन्न राष्ट्रों के विषय में विशेष रूप से अध्ययन किया है, वे देख पायेंगे कि भारतीय चिन्तन के इस धीरे और अविराम प्रवाह के सहारे संसार के भावों, व्यवहारों, पद्धतियों और साहित्य में कितना बड़ा परिवर्तन हो रहा है।

हाँ, भारतीय प्रचार की अपनी विशेषता है। हमने कभी बन्दूक या तलवार के सहारे अपने विचारों का प्रचार नहीं किया। यदि अंग्रेज़ी

भाषा में ऐसा कोई शब्द है जिसके द्वारा संसार को भारत का दान प्रकट किया जाय - यदि अंग्रेजी भाषा में कोई ऐसा शब्द है जिसके द्वारा मानव जाति पर भारतीय साहित्य का प्रभाव व्यक्त किया जाय तो वह यही एक मात्र शब्द, सम्मोहन (Fascination) है। यह सम्मोहिनी शक्ति वैसी नहीं है जिसके द्वारा मनुष्य एकाएक मोहित हो जाता है, परंतु यह ठीक उसके विपरीत है। यह धीरे धीरे बिना कुछ मालूम हुए, मानो तुम्हारे मन पर अपना आकर्षण डालती है।

बहुतों को भारतीय विचार, भारतीय प्रथा, भारतीय आचार-व्यवहार, भारतीय दर्शन और भारतीय साहित्य पहले पहल कुछ विचित्र से मालूम होते हैं; परन्तु यदि वे धैर्यपूर्वक मन लगाकर अध्ययन करें और उन तत्त्वों में निहित महान सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करें, तो फलस्वरूप निन्यानबे प्रतिशत लोग आकर्षित होकर उनसे विमुग्ध हो जायेंगे। सबेरे के समय गिरनेवाली कोमल ओस न तो किसी को आँखों से दिखायी देती है और न उसके गिरने से कोई आवाज़ ही कानों को सुनायी पड़ती है। ठीक उसी के समान यह शान्त, सहिष्णु, सर्वसह, धर्मनिष्ठ जाति धीरे और मौन होने पर भी विचार साम्राज्य में अपना जबरदस्त प्रभाव डालती रही है।

केवल भारत ही ऐसा देश है, जहाँ के लोगों ने अपने कबीले के छोटे छोटे देवताओं के लिए यह कह कर लड़ाई नहीं की है कि 'मेरा ईश्वर सच्चा है, तुम्हारा झूठा; आओ, हम दोनों लड़कर इसका फैसला कर लें।' छोटे छोटे देवताओं के लिए लड़कर फैसला करने की बात केवल यहाँ के लोगों के मुँह से कभी सुनायी नहीं दी। हमारे यहाँ के ये महान तत्त्व हजारों वर्ष पहले के समान आज भी मानव जाति का कल्याण करने की शक्ति रखते हैं।

समग्र भारत का इतिहास जबरदस्त शक्ति के साथ ओजस्वी भाषा में उसी एक मूल सिद्धान्त की पुनरुक्ति मात्र है। 'एकं सद्भिप्रा बहुधा वदन्ति' - सत्ता एकमात्र है। पण्डित लोक उसी एक का तरह तरह

से वर्णन करते हैं। इस देश में यह सिद्धान्त बार बार दोहराया गया है, यहाँ तक कि अन्त में वह हमारी जाति के रक्त के साथ मिलकर एक हो गया है और इसकी धमनियों में प्रवाहित होनेवाले रक्त की प्रत्येक बूँद के साथ मिल गया है—वह इस जीवन का एक अंगस्वरूप हो गया है। इसी कारण इस प्राचीन मातृभूमि में हमें सब धर्मों और सम्प्रदायों को सादर स्थान देने का अधिकार प्राप्त हुआ है। इस भारत में, ऊपर ऊपर से एक दूसरे के विरोधी होने पर भी ऐसे बहुत से धर्मसम्प्रदाय हैं जो बिना किसी विरोध के स्थापित हैं, इस अत्यन्त विचित्र बात का एकमात्र यही कारण है ।

अन्य देशों के शिक्षित लोग भी नाक मुँह सिकोड़कर हमारे धर्म को मूर्तिपूजक कहते तथा समझते हैं। मैंने स्वयं उन्हें ऐसा करते देखा है। पर वे कभी स्थिरचित्त होकर यह नहीं सोचते कि उनका मस्तिष्क कैसे कुसंस्कारों से परिपूर्ण है। और आज भी सर्वत्र ऐसा ही है—ऐसी ही घोर साम्प्रदायिकता है, मन में इतनी घोर संकीर्णता है। उनका अपना जो कुछ है, मानो वही संसार में सबसे अधिक मूल्यवान है। धनदेवता की पूजा और अर्थोपासना ही उनकी राय में सच्चा जीवन—निर्वाह है।

संसार में शिक्षा और अध्ययन के इतने प्रचार के बावजूद सारी दुनिया की यही हालत है। इस जगत में अब भी असली शिक्षा की आवश्यकता है। और सभ्यता—सच पूछो तो सभ्यता का अभी तक कहीं आरम्भ भी नहीं हुआ है।

मनुष्य जाति में अब भी निन्यानबे दशमलव नौ प्रतिशत लोग प्रायः असभ्य अवस्था में ही पड़े हुए हैं। हम इस विषय में पुस्तकों में भले ही पढ़ते हों, हम धार्मिक सहिष्णुता के बारे में सुनते हों, किन्तु मैं अपने अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि संसार में यह भाव बहुत अल्प मात्रा में विद्यमान है। निन्यानबे प्रतिशत मनुष्य इन बातों को मन में स्थान तक नहीं देते हैं। संसार के जिस किसी देश में मैं गया, वहीं मैंने देखा कि अब भी दूसरे धर्मों के अनुयायियों पर घोर अत्याचार

जारी है; कुछ भी नया सीखने के विरुद्ध आज भी वही पुरानी आपत्तियाँ उठायी जाती हैं। संसार में दूसरों के धर्म के प्रति सहिष्णुता का यदि थोड़ा बहुत भाव आज भी कहीं विद्यमान है, तो वह यही—इसी आर्यभूमि में है, और कहीं नहीं।

संसार को भारतवर्ष से दूसरों के धर्म के प्रति सहिष्णुता की ही नहीं, दूसरों के धर्म के साथ सहानुभूति रखने की भी शिक्षा ग्रहण करनी होगी। इसको 'महिम्न स्तोत्र' में भली भाँति व्यक्त किया गया है— 'हे शिव, जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ विभिन्न पर्वतों से निकल कर सरल तथा वक्र गति से प्रवाहित होकर अन्ततः समुद्र में ही मिल जाती हैं, उसी प्रकार अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों के कारण जिन विभिन्न मार्गों को लोग ग्रहण करते हैं, सरल या वक्र रूप में विभिन्न लगने पर भी वे सभी तुम तक ही पहुँचाते हैं।'

यद्यपि लोग भिन्न भिन्न मार्गों से चल रहे हैं, तथापि सब लोग एक ही स्थान की ओर जा रहे हैं। कोई जरा धूम-फिरकर टेढ़ी राह से चलता है और कोई एकदम सीधी राह से; पर अन्ततः वे सब उस एक प्रभु के पास आयेंगे। तुम्हारी शिवभक्ति तभी सम्पूर्ण होगी, जब तुम सर्वत्र शिव को ही देखोगे, केवल शिवलिंग में ही नहीं। वे ही यथार्थ में साधु हैं, वे ही सच्चे हरिभक्त हैं, जो हरी को सब जीवों में, सब भूतों में देखा करते हैं। यदि तुम शिवजी के यथार्थ भक्त हो, तो तुम्हें उनको सब जीवों में तथा सब भूतों में देखना चाहिए।

विभिन्नताएँ तो रहेंगी ही; उनके बिना जीवन असम्भव है। विचारों का यह पारस्परिक संघर्ष और विभिन्नता ही ज्ञान के प्रकाश और गति का कारण है। संसार में अनन्त प्रकार के परस्पर विरोधी विभिन्न भाव विद्यमान रहेंगे और जरूर रहेंगे, परन्तु इसके लिए एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखें अथवा परस्पर लड़ें, यह आवश्यक नहीं।

अतएव, हमें उसी मूल सत्य की फिर से शिक्षा ग्रहण करनी होगी,

जो केवल यहीं से, हमारी इसी मातृभूमि से प्रचारित हुआ था। फिर एक बार भारत को संसार में इसी मूल तत्त्व का, इसी सत्य का प्रचार करना होगा। ऐसा क्यों है? इसलिए नहीं कि यह सत्य हमारे शास्त्रों में लिखा है, परंतु हमारे राष्ट्रीय साहित्य का प्रत्येक विभाग और हमारा राष्ट्रीय जीवन इससे पूर्णतः ओतप्रोत है। यहीं और केवल यहीं, दैनिक जीवन में इसका अनुष्ठान होता है; और कोई भी व्यक्ति जिसकी आँखें खुली हैं, यह स्वीकार करेगा कि यहाँ के सिवा और कहीं भी इसका अभ्यास नहीं किया जाता।

विनम्रता की, शान्तभाव की, इस तितिक्षा की, इस धार्मिक सहिष्णुता की तथा इस सहानुभूति की और भ्रातृभाव की महान शिक्षा प्रत्येक बालक, स्त्री, पुरुष, शिक्षित, अशिक्षित, सब जाति और वर्ण वाले सीख सकते हैं। 'तुमको अनेक नामों से पुकारा जाता है, पर तुम एक हो'— एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।

* * *

हिन्दी सिनियर (कक्षा ८ से १०)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

३. श्रद्धा और बल

जिसमें आत्मविश्वास नहीं है वही नास्तिक है। प्राचीन धर्मों में कहा गया है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। नूतन धर्म कहता है, जो आत्मविश्वास नहीं रखता वही नास्तिक है।

संसार का इतिहास उन थोड़े से व्यक्तियों का इतिहास है, जिनमें आत्मविश्वास था। यह विश्वास अन्तःस्थित देवत्व को ललकार कर प्रकट कर देता है। तब व्यक्ति कुछ भी कर सकता है, सर्व समर्थ हो जाता है। असफलता तभी होती है, जब तुम अन्तःस्थ अमोघ शक्ति को अभिव्यक्त करने का यथेष्ट प्रयत्न नहीं करते। जिस क्षण व्यक्ति या राष्ट्र आत्मविश्वास खो देता है, उसी क्षण उसकी मृत्यु हो जाती है।

विश्वास - विश्वास! अपने आप पर विश्वास, परमात्मा के ऊपर विश्वास - यही उन्नति करने का एकमात्र उपाय है। यदि पुराणों में कहे गये तैंतीस करोड़ देवताओं के ऊपर और विदेशियों ने बीच बीच में जिन देवताओं को तुम्हारे बीच घुसा दिया है, उन सब पर भी तुम्हारा विश्वास हो और अपने आप पर विश्वास न हो, तो तुम कदापि मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते।

यह कभी न सोचना कि आत्मा के लिए कुछ असम्भव है। ऐसा कहना ही भयानक नास्तिकता है। यदि पाप नामक कोई वस्तु है तो यह कहना ही एकमात्र पाप है कि मैं दुर्बल हूँ अथवा अन्य कोई दुर्बल है।

तुम जो कुछ सोचोगे, तुम वही हो जाओगे; यदि तुम अपने को दुर्बल समझोगे, तो तुम दुर्बल हो जाओगे; बलवान सोचोगे तो बलवान बन जाओगे।

मुक्त होओ; किसी दूसरे के पास से कुछ न चाहो। मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि यदि तुम अपने जीवन की अतीत घटनाएँ याद करो तो देखोगे कि तुम सदैव व्यर्थ ही दूसरों से सहायता पाने की चेष्टा करते रहे, किन्तु कभी पा नहीं सके; जो कुछ सहायता पायी है, वह अपने अन्दर से ही थी।

कभी 'नहीं' मत कहना, 'मैं नहीं कर सकता' यह कभी न कहना। ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि तुम अनन्तस्वरूप हो। तुम्हारे स्वरूप की तुलना में देश-काल भी कुछ नहीं है। तुम्हारी जो इच्छा होगी वही कर सकते हो, तुम सर्वशक्तिमान हो।

तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो। तुम भला पापी! मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानवस्वभाव पर घोर लांछन है। उठो! आओ! ऐ सिंहो! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो, तुम तो जरा-मरण-रहित नित्यानन्दमय आत्मा हो।

ये संघर्ष, ये भूलें रहने से हर्ज भी क्या? मैंने गाय को कभी झूठ बोलते नहीं सुना, पर वह सदा गाय ही रहती है, मनुष्य कभी नहीं हो जाती। अतएव यदि बार बार असफल हो जाओ, तो भी क्या? कोई हानि नहीं, सहस्र बार इस आदर्श को हृदय में धारण करो और यदि सहस्र बार भी असफल हो जाओ, तो एक बार फिर प्रयत्न करो।

मनुष्य को सदैव दुर्बलता की याद कराते रहना उसकी दुर्बलता का प्रतिकार नहीं है बल्कि उसे अपने बल का स्मरण करा देना ही उसके प्रतिकार का उपाय है। उनमें जो बल पहले से ही विद्यमान है उसका उन्हें स्मरण कराओ।

उपनिषदों में यदि कोई एक ऐसा शब्द है जो वज्र-वेग से अज्ञान-राशि के ऊपर आघात करता है, उसे बिलकुल उड़ा देता है, तो वह है 'अभीः' निर्भयता।

तुम देख सकते हो कि मैंने उपनिषदों के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र से उद्धरण कभी नहीं दिये; उपनिषदों से भी केवल 'बल' का आदर्श ही। वेद एवं वेदान्त का समस्त सार तथा अन्य सब कुछ इस एक शब्द में निहित है।

हे मेरे युवकबन्धगुण, तुम बलवान बनो, यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। मैं हरएक से यही एक प्रश्न करता हूँ - "क्या तुम बलवान हो? क्या तुम्हें बल प्राप्त होता है?" क्योंकि मैं जानता हूँ, एकमात्र सत्य ही बल प्रदान करता है। ... बल ही भवरोग की दवा है।

यह एक बड़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण। बल ही अनन्त सुख है, चिरन्तन और शाश्वत जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु।

सिद्ध होना हो, तो प्रबल दृढ़ता चाहिए, मन का अपरिमित बल चाहिए। दृढ़ साधक कहता है, "मैं समुद्र पी जाऊँगा। मेरी इच्छा मात्र से पर्वत चूर-चूर हो जायेंगे।" इस प्रकार का उत्साह, इस प्रकार का दृढ़ संकल्प लेकर कठोर साधना करो। उस परमपद की प्राप्ति अवश्य होगी।

केवल मनुष्यों की आवश्यकता है; और सब कुछ हो जायेगा। आवश्यकता है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रद्धासम्पन्न और अन्त तक कपटरहित नवयुवकों की। इस प्रकार के सौ नवयुवकों से संसार में क्रांति हो सकती हैं।

केवल खा-पीकर आलसी जीवन जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है; पराजित होकर जीने की अपेक्षा युद्ध-क्षेत्र में मरना श्रेयस्कर है।

अपनी बहादुरी तो दिखाओ। प्रिय भाई, मुक्ति न मिली तो न

सही, दो-चार बार नरक ही जाना पड़े तो हानि ही क्या है?

पीछे की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है, forward (आगे बढ़ो)। अनन्त शक्ति, अनन्त उत्साह, अनन्त साहस तथा अनन्त धैर्य चाहिए, तब कहीं महान कार्य सम्पन्न होता है।

निराश मत होओ; मार्ग बड़ा कठिन है - छूरे की धार पर चलने के समान दुर्गम; फिर भी निराश मत होओ; उठो, जागो और अपने परम आदर्श को प्राप्त करो।

तू क्यों रोता है, भाई? तेरे लिए न मृत्यु है, न रोग। तू क्यों रोता है, भाई? तेरे लिए न दुःख है, न शोक। तू क्यों रोता है, भाई? तेरे विषय में परिणाम या मृत्यु की बात कही ही नहीं गयी। तू तो सत्स्वरूप है। ... अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जा।

जिसका जो जी चाहे कहे, आपे में मस्त रहो - दुनिया तुम्हारे पैरों तले आ जाएगी, चिन्ता मत करो। लोग कहते हैं - इस पर विश्वास करो, उस पर विश्वास करो; मैं कहता हूँ - पहले अपने आप पर विश्वास करो। अपने पर विश्वास करो - सब शक्ति तुम में हैं - इसकी धारणा करो और शक्ति जगाओ - कहो, हम सब कुछ कर सकते हैं। "नहीं नहीं कहने से साँप का विष भी असर नहीं करता।"

एक बार मैं काशी में किसी जगह जा रहा था, उस जगह एक तरफ भारी जलाशय और दूसरी तरफ ऊँची दीवार थी। उस स्थान पर बहुत से बन्दर रहते थे। काशी के बन्दर बड़े दुष्ट होते हैं। अब उनके मस्तिष्क में यह विचार पैदा हुआ कि वे मुझे उस रास्ते पर से न जाने दें। वे विकट चीत्कार करने लगे और झट आकर मेरे पैरों को जकड़ने लगे। उनको निकट देखकर मैं भागने लगा, किन्तु मैं जितना ज्यादा जोर से दौड़ने लगा, वे उतनी ही अधिक तेज़ी से आकर मुझे काटने लगे। अन्त में उनके हाथ से छुटकारा पाना असम्भव प्रतीत हुआ - ठीक ऐसे ही समय एक अपरिचित मनुष्य ने आकर मुझे आवाज़ दी, "बन्दरों

का सामना करो।" मैं जैसे ही पलटकर उनके सामने खड़ा हुआ, वैसे ही वे पीछे हटकर भाग गये।

समस्त जीवन में हमको यह शिक्षा लेनी होगी - जो कुछ भी भयानक है, उसका सामना करना पड़ेगा, साहसपूर्वक उसके सामने खड़ा होना पड़ेगा। यह जानते हुए उठ खड़े हो और लड़ो! एक पग भी पीछे न रखो, जो भी आये, उससे लड़ कर निपट लो। अन्तरिक्ष से नक्षत्र भले ही हट जायें। सारा संसार हमारे विरुद्ध क्यों न खड़ा हो जाय। मृत्यु का अर्थ केवल वस्त्रों का परिवर्तन है। उससे क्या? अतः लड़ो! कायर होकर तुम कोई भी लाभ नहीं उठाते।... एक पग पीछे हटकर तुम किसी भी दुर्भाग्य को टाल नहीं सकते। अन्त तक हिम्मत न हारो...

अन्धविश्वासों के आगे यह घुटने टेकना, स्वयं अपने मन के हाथों अपने को बेच देना, मेरी आत्मा, तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम असीम अमर, अनादि हो। तुम असीम आत्मा हो! इस कारण दास होना तुम्हें शोभा नहीं देता।... उठो! जागो! खड़े होओ और लड़ो!

* * *